ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI:UPBIL04292, REG. No.: 561/2013-2014 Vol.-2, No.-2, **PP-46-49**,YEAR-2015

भारतीय संघवाद एवं राज्यों की स्वायत्तता

❑ **डॉ0 शैलजा अस्थाना**

सारांश– *संघात्मक शासन प्रणाली एक लचीली व्यवस्था है, जिसमें केन्द्र तथा राज्यों में सत्ता का विभाजन होता है और इसका मूल उद्देष्य अनेकता में एकता, सत्ता का निक्षेपण तथा शासन का विकेन्द्रीकरण है। संघवाद में विभिन्न राज्यों के संयोजन से एक ऐसे समन्वित राज्य की संरचना होती है जिसमें केन्द्रीय सरकार की स्थिति पृथक और सुव्यक्त रहती है। केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें समान आधार पर सत्ता में भागीदार होती हैं, परन्तु सत्ता के इस विभाजन का कोई विशेष नियम नहीं है। इसलिए सत्ता के विभाजन की यह प्रक्रिया अलग–अलग देशों में भिन्न–भिन्न है। उदाहरण स्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी और भारत जैसे देशों में संघात्मक व्यवस्था तो है परन्तु इसका स्वरूप भिन्न है। इसलिए यह एक लचीली शासन प्रणाली है। जहां तक भारत का प्रश्न है यह जातीय, भाषाई, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विविधता वाला देश है, इसलिए संविधान निर्माता इन विशेषताओं की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अतएव नवीन, एकीकृत स्वतंत्र भारत का संविधान बनाते समय उन्होंने संघवाद को अपनाया ताकि इस विशाल देश में रची बसी विविधता में एकता को सुरक्षित रखा जा सके। साथ ही उन्होंने इस बात का भी ध्यान रखा कि यदि भविष्य में कभी एकता और अनेकता में संघर्श हो जाये तो एकता और अखण्डता बनी रहे, इसलिए देश के हितों को ध्यान में रखते हुए भारत की एकता और अखण्डता का प्रभावित करने वाले अनेक विषयों में उन्होंने राज्यों की अपेक्षा केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाया।*

भारतीय संघवाद का स्वरूप– भारत की संघात्मक व्यवस्था विलक्षण प्रकृति की है। यहां कनाडा के संविधान के आदर्श को अपनाते हुए भारतीय संघ के लिए 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा संघ व इकाईयों के बीच शक्तियों के बंटवारे में अवशिष्ट शक्तियां इकाईयों को न देकर केन्द्र को प्रदान की गयी हैं। संविधान के अनुच्छेद एक में ही स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि 'इण्डिया अर्थात भारत राज्यों का एक संघ' होगा। '' राज्यों के संघ'' शब्द की व्याख्या करते हुए डा0 भीमराव अम्बेडकर का कहना था कि इसमें दो बातें निहित हैं– प्रथम यह कि भारतीय संघ इन इकाईयों के बीच हुए किसी समझौते का परिणाम नहीं है और दूसरी यह कि इन इकाईयों को संघ से पृथक होने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है।

संवधिान द्वारा शासन की शक्तियों को एक ही स्थान पर केन्द्रित न रखते हुए इसे केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच विभाजित किया गया है और दोनों ही अपने–अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र शक्ति का प्रयोग करते हैं। लिखित एवं कठोर संविधान, संविधान की सर्वोच्चता, स्वतंत्र न्यायपालिका, जैसी संघात्मक शासन की विशेषताएं भी संविधान में विद्यमान हैं, परन्तु जैसा कि डा0 भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्वीकार किया था, ''संविधान की संघात्मकता को तंग ढांचे में नहीं ढाला गया है'' इस कथन का उद्देश्य यह बताना था कि संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान भी विद्यमान हैं जो एकात्मकता के लक्षण प्रतीत होते हैं। उदाहरण स्वरूप इकहरी नागरिकता, एकल न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएं, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति आदि। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद दो में कहा गया है कि भारत की संसद को यह अधिकार है कि अपने विवेकानुसार उपयुक्त शर्तों पर वह किसी भी नये राज्य को संघ में सम्मिलित कर सकती है या नये

असि0प्रो0, राजनीति विज्ञान, वीर बहादुर सिंह राजकीय महाविद्यालय, कैम्पियरगंज, गोरखपुर, (उ0प्र0) भारत

राज्य की स्थापना कर सकती है। संसद किसी राज्य से कोई क्षेत्र पृथक करके या दो या दो से अधिक राज्यों अथवा उनके कुछ भागों को मिलाकर नये राज्यों का निर्माण भी कर सकती है। इस प्रक्रिया में वह किसी राज्य के क्षेत्र को बढ़ा भी सकती है और कम भी कर सकती है, उसकी सीमाओं और नामों में परिवर्तन कर सकती है। संसद का यह अधिकार एकान्तिक है, परन्तु साथ ही राज्यों के विधान मण्डलों को इस विषय पर अपनी सहमति प्रकट करने का भी अधिकार है।

उपरोक्त विलक्षणों को ध्यान में रखते हुए ही डा0 के0सी0 व्हीयर ने भारत के संविधान को 'अर्द्ध संघात्मक कहा, तो डा0 डी0डी0 बसु ने इसे 'एक नवीन प्रकार का संघ' कहा। संभवतः यही कारण है कि भारत को ''राज्यों का संघ'' घोषित किये जाने के बाद से ही भारतीय संविधान की संघात्मकता की प्रकृति को संदेह की दृष्टि से देखा जाता रहा है और केन्द्र की विस्तृत शक्तियां व राज्यों की सीमित शक्तियों को देखते हुए जहां कुछ संविधान विशेषज्ञ उसे संघात्मक व्यवस्था मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं, जैसे पी0टी0चाको, पी0एस0देशमुख, डा0 कृष्णा पी0 मुखर्जी, वहीं दूसरी ओर राज्य सरकारों द्वारा समय–समय पर केन्द्र पर भेदभाव का आरोप लगाया जाता रहा है और चौथे आम चुनाव, सन् 1967 के बाद से तो समय–समय पर राज्यों द्वारा स्वायत्ता की मांग उठायी जाती रही है और कभी–कभी यह मांग उग्र रूप धारण करती रही है। नये राज्यों के गठन की मांग के पीछे भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वायत्ता की भावना ही काम कर रही है। प्रस्तुत शोध पत्र में राज्यों द्वारा स्वायत्ता की मांग के प्रमुख विन्दु एवं उनके औचित्य पर प्रकाश डाला गया है।

जहां तक राज्यों की स्वायत्ता का प्रश्न है, इसका तात्पर्य न तो राज्यों की स्वतंत्रता से है और न ही सम्प्रभुता से, अपितु यह एक ऐसी मांग है जिसमें कुछ विशेष क्षेत्रों में राज्यों को पूर्ण स्वतंत्रता एवं कम से कम केन्द्रीय हस्तक्षेप की अपेक्षा की जाती है। राज्य अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने के अधिकार के साथ ही यह भी चाहते हैं कि राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्रीय सरकार की दखलदांजी कम हो और संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर उन्हें निरपेक्ष सत्ता का प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्य क्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त बनाया जाय ताकि ये जनकल्याण के कार्यों को अपनी योजनाओं के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक कर सकें।

राज्यों द्वारा स्वायत्ता की मांग के पीछे संविधान के कुछ उपबन्ध हैं जो राज्यों की दुर्बल स्थिति को तथा संघ की सशक्त स्थिति को व्यक्त करते हैं जैसे आपातकालीन स्थितियों में अनुच्छेद 353, 354 तथा 357 के अनुसार संघ की विधायी शक्ति का विस्तार राज्य सूची के विषयों तक भी हो जाता है। इसके साथ ही संघ को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह सामान्य स्थिति में भी राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता है। अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्य सभा को तिहाई बहुमत से यह संकल्प पारित कर दे कि राष्ट्रहित में संघ को राज्य सूची में सम्मिलित किसी विषय पर कानून बनाना चाहिए, तो ऐसा करने के लिए संघ अधिकृत हो जाता है। अनुच्छेद 256, 257 के अनुसार संघ अपने कानूनों तथा प्रशासनिक कार्यवाहियों का उचित अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए राज्य सरकारों को जरूरी निर्देश दे सकता है और इन निर्देशों का पालन न करने पर अनुच्छेद 356 के अनुसार केन्द्र सरकार राज्य को बर्खास्त कर सकता है।

सर्वाधिक विवादास्पद अनुच्छेद 356 रहा है, जिसके तहत यदि किसी भी तरह राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि किसी राज्य में संवैधानिक उपबन्धों का समुचित पालन नहीं हो रहा है तो वह उस राज्य के प्रशासन को हस्तगत कर सकता है। ज्ञातव्य है कि इस विश्वास का आधार केवल सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल का प्रतिवेदन ही नहीं, अपितु राष्ट्रपति को किसी भी स्रोत से यह विश्वास बनाने की छूट है। इसका आशय यह है कि यह अनुच्छेद पूरी तरह से संघ को राज्य के भाग्य का विधाता बना देता है। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक, न्यायिक एवं वित्तीय व्यवस्था भी राज्यों पर संघ का वर्चस्व ही सुनिश्चित करती है। यही कारण है कि अतीत में कई बार कुछ राज्य सरकारों द्वारा केन्द्र पर अनावश्यक तानाशाही का आरोप लगाते हुए अतिरिक्त स्वायत्ता की मांग की गयी है और केन्द्र को मात्र

प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा एवं संचार व्यवस्था तक ही सीमित रखने की सलाह दी गयी है। इन राज्यों में प्रमुख है पश्चिम बंगाल, पंजाब, तमिलनाडु और जम्मू कश्मीर। इसका कारण यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद भारत का राजनीतिक परिवेश दूषित होता गया और राजनेताओं का प्रमुख लक्ष्य अपनी प्रतिष्ठा एवं अपनी पार्टी की शक्ति में बृद्धि हो गया तथा राष्ट्रहित गौण हो गया। अधिकांश मामलों में अनुच्छेद 356 का प्रयोग केन्द्र सरकार द्वारा जनहित में नहीं बल्कि स्वहित, दलहित एवं व्यक्ति हित में किया गया। ऐसे राजनीतिक परिदृश्य में राज्यों द्वारा संघ के वर्चस्व को सीमित किये जाने की मांग अनुचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि संघ सरकार द्वारा अपनी शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने के लिए कोई न कोई व्यवस्था आवश्यक है।

राज्यों द्वारा स्वायत्ता की मांग के प्रमुख बिन्दु– अक्टूबर 1978 में तमिलनाडु की अगुवाई में सभी गैर कांग्रेसी दलों ने एकजुट होकर राज्यों के लिए अधिक स्वायत्ता की मांग उठायी तो उनका तर्क यह था कि ऐसा होने पर ही वे सातवीं अनुसूची की द्वितीय सूची में वर्णित विकास कार्यक्रमों को समुचित रूप से चला सकेंगे। उस समय मोरारजी देसाई सरकार में 'आर्थिक सहायता' के रूप में कुछ अनुदान देकर राज्यों को शान्त कर दिया, परन्तु केन्द्र सरकार के बीच स्पष्ट वित्तीय व्यवस्था हेतु मार्च 1983 में उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश श्री आर0एम0 सरकारिया की अध्यक्षता में आयोग गठित किया गया, जिसने सन् 1988 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में केन्द्र राज्य सम्बन्धों में कटुता को दूर करने के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद के गठन का सुझाव दिया। फलतः 1990 में इसका गठन कर दिया गया। सरकारिया आयोग में सबसे ज्यादा वित्तीय संशाधनों के वितरण के प्रश्न पर विचार किया और राज्यों के लिए अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध किये जाने की सिफारिश भी की।

सन् 1990 के बाद भूमण्डलीकरण अर्थात् वैश्वीकरण एवं उदारीकरण का जो दौर शुरू हुआ उसने न केवल अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को अपितु राष्ट्रीय परिदृश्य को भी प्रभावित किया है। अब राज्य अपने संशाधनों का स्वतः सम्पूर्ण उपभोग करना चाहते हैं। अपने विकास का मार्ग स्वयं चुनना चाहते हैं। दूसरी ओर बहुदलीय व्यवस्था में गठबन्धन की राजनीति का युग आरम्भ हो चुका है जिससे राष्ट्रीय दलों की शक्ति में ह्रास हुआ है और क्षेत्रीय दलों के सहयोग के बिना उसका सरकार बना पाना असंभव हो गया है। ऐसी स्थिति में राज्यों की सहभागिता अनिवार्य हो गयी है और क्षेत्रीय व स्थानीय मुद्दे अधिक प्रभावशाली हो गये हैं। मिली–जुली सरकार के युग में अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग भी निःसन्देह कम हुआ है। फिर भी अब राज्यों के पुर्नगठन की मांग, अन्तर्राज्यीय परिषद की सक्रियता तथा सौदेबाजी संघीय प्रवृति में क्षेत्रीय दलों की क्षमता व भूमिका दोनों बढ़ गयी है। राज्यों में निवेश के अवसर बढ़े हैं। जहां एक ओर आरक्षण, महिला सुरक्षा व सशक्तिकरण, क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद का बोलबाला है, वहीं मतदाताओं में भी जागरूकता बढ़ी है, जो पिछले चुनावों में बढ़े हुए मतदान प्रतिशत को देखकर समझाा जा सकता है। अतः अब भारतीय राजनीति अच्छे शासन की स्थापना की ओर उन्मुख है और ऐसे में राज्यों को संघीय ढांचे के भीतर रहते हुए स्वायत्ता दिया जाना स्वाभाविक है। आवश्यकता इस बात की है कि न तो केन्द्र को कमजोर बनाया जाय और न ही राज्यों को आज्ञाकारी शिशु की भांति रखा जाय। अपितु जनहित को ध्यान में रखते हुए दोनों परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य करें। राज्यों द्वारा स्वायत्ता की मांग के औचित्य के समर्थन में प्रमुख विचारणीय विन्दु इस प्रकार हैं :–

1. राज्यों के दिन–प्रतिदिन बढ़ते हुए कार्यों को देखते हुए उन्हें आर्थिक स्वायत्ता मिलनी चाहिए, ताकि वे स्वयं अपने लिये आर्थिक संसाधनों की व्यवस्था कर सकें, अपना विकास कार्य चला सकें।
2. स्वायत्ता मिलने से आर्थिक नियोजन व ग्रामीण विकास सम्बन्धी कार्यों के लिए राज्यों को वित्तीय क्षेत्र में संघ पर आश्रित नहीं रहना पड़ेगा और वे आत्मनिर्भर बनेंगे।
3. राज्यों के द्वारा स्वायत्ता की मांग संघीय ढांचे के अन्तर्गत ही की जा रही है इसलिए इससे संविधान के संघात्मक स्वरूप पर प्रभाव नहीं पड़ेगा और

संवैधानिक प्रावधान पूर्ववत बने रहेंगे।

4. राज्य अपनी आय के अधिकतम स्रोत स्वयं ढूंढ सकेंगे और उनका समुचित उपभोग करेंगे। इससे उन्हें विकास कार्यों के लिए केन्द्र के अनुदान पर आश्रित नहीं रहना पड़ेगा।

5. राज्यों के अपने योजना मण्डल होंगे जो उन्हें परामर्श देने का कार्य करेंगे और वे अपनी आर्थिक योजनाएं सुचारू रूप से कार्यान्वित कर सकेंगे।

6. प्रायः राज्य शिकायत करते हैं कि राज्यों को अनुदान देते समय केन्द्र सरकारें सौतेला व्यवहार करती हैं। गैर दलीय राज्यों को अनुदान नहीं देतीं। स्वायत्ता देने पर वे आत्मनिर्भर बनेंगे और स्वयं अपने विकास के मार्ग ढूंढेंगे।

अतः इस शोध पत्र के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि केन्द्र को मजबूत रखते हुए भी राज्यों को इतनी वित्तीय शक्ति प्रदान की जानी चाहिए जिससे वे साधनों के अभाव में स्वयं को असहाय या अप्रभावशाली महसूस न करें तथा संघ के सहयोगी, सहभागी के रूप में कार्य करें, न कि प्रतिद्वन्द्वी के रूप में, और यह तभी संभव है जब राज्यों को स्वायत्ता दी जाएगी। सन् 1990 के बाद आये उदारीकरण, वैष्वीकरण, विकेन्द्रीकरण तथा बाजारोन्मुखी अर्थव्यवस्था के दौर में राज्यों में निवेश के आसार बढ़े हैं। स्वायत्ता मिलने पर भी बहुराश्ट्रीय कम्पनियों के सहयोग से अपना सर्वांगीण विकास कर सकेंगे और क्षेत्रीय विषमता दूर होगी। अधिकतर केन्द्र द्वारा राज्यों के साथ सौतेला व्यवहार करने की शिकायत उन्हीं राज्यों के द्वारा की जाती है जहां केन्द्र से भिन्न दलों की सरकारें होती हैं, जबकि केन्द्रीय सरकारें ऐसे राज्यों पर यह आरोप लगाती हैं कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में आर्थिक अनुदान दिये जा रहे हैं, परन्तु उस धनराशि का सही उपभोग राज्यों द्वारा नहीं किया जा रहा है। राज्यों को स्वायत्ता दिये जाने से ऐसे आरोप–प्रत्यारोप का दौर समाप्त होगा तथा राज्य अपने संसाधन स्वंय जुटाकर उनका उपभोग कर पायेंगे। ऐसी स्थिति में 'सहयोगी संघवाद' के लिए मार्ग प्रशस्त होगा तथा संघ एवं उसकी इकाईयां एक–दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक बनेंगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रहमत बेगम : भारतीय संघ और राज्यों की स्वायत्ता, लोकतंत्र समीक्षा (नई दिल्ली), जनवरी–मार्च, 1977, पृ0 91–93
2. राजस्थान पत्रिका (उदयपुर) : 9 अक्टूबर, 1985, पृ0 एक।
3. डी0सी0गुप्ता : 'इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स (नई दिल्ली, विकास, 1972) पृ0 121
4. डॉ0 श्यामलाल मांडावत '' राज्यों की आर्थिक स्वायत्ता कहां तक?'' राजस्थान पत्रिका (जयपुर) 23 अगस्त, 1978, पृ0 5–6
5. दिनमान, 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर, 1977, पृ0 21–22
6. नन्द किशोर त्रिखा : '' संघ और राज्य–एक और गोष्ठी : नतीजा कुछ नहीं'', दि नवभारत टाइम्स, 23 दिसम्बर, 1978, पृ0 4
7. डॉ0 बाबूलाल फड़िया एवं श्रीपाल जैन : भारतीय संघ व्यवस्था (कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर,1982), पृ0 203
8. रजनी कोठारी : भारत में राजनीति, पृ0 137
9. ओ0पी0गोयल : 'इण्डिया : गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स' (नई दिल्ली, 1977), पृ0 96
10. अशोक चन्दा : 'फेडरलिज्म् इन इण्डिया', पृ0 196
11. एम0वी0पायली : 'कन्स्टीट्यूशलन गवर्नमेन्ट इन इण्डिया', एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1977, पृ0 678
12. मॉरिस जोंस, '' गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, 1971, पृ0 150
13. ग्रेनविल ऑस्टिन : दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, पृ0 185
14. एस0पी0अय्यर : ' एक अधिक पूर्ण संघ के विषय में विचार', शकधर : संविधान और संसद–1976, पृ0 22
15. डॉ0 सुभाश कश्यप : संविधान की आत्मा : पृ0 76–77
16. प्रो0 एम0वी0पायली, '' भारतीय संविधान : एक परिचय'' विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 29, 57–58

*****